प्रकाशक

बुंदेलखंड में ओरछा राज्य प्राचीन काल से हिन्दी साहित्य और कवियो का सम्मान करता आया है। इस क्रम को वर्तमान नरेश सवाई महेन्द्र सर वीरसिंह जी देव ने अक्षुण्ण रक्खा है और संवत् १६६० वि० से प्रतिवर्ष किसी हिन्दी कवि के सम्मानार्थ २०००) का पुरस्कार देते आ रहे हैं। संवत् १६६४ मे प्रतियोगिता के लिए आये हुए ग्रन्थों में से कोई रचना पुरस्कार योग्य नही समझी गई और इस कारण पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति श्री वीरेन्द्र-केशव-साहित्य-परिषद् ने इस निधि में से १०००) हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग को 'देव पुरस्कार ग्रंथावली' के नाम से एक पुस्तक-माला प्रकाशित करने के लिए प्रदान किया। इस दान के लिये सम्मेलन श्रीमान् ओरछा-नरेश तथा पुरस्कार प्रबन्धकर्त्री समिति का कृतज्ञ है।

सम्मेलन की साहित्य समिति ने यह निश्चय किया है कि इस ग्रंथावली में आधुनिक काल के प्रतिनिधि कवियों के काव्य-संग्रह प्रकाशित किए जायें। इस माला की विशेषता यह होगी कि प्रत्येक कवि स्वयं अपनी कविताओं का चयन करेगा और स्वय ही अपनी कविता का दृष्टिकोण पाठकों के सामने उपस्थित करेगा। प्रत्येक सग्रह के साथ कवि की हस्तलिपि का नमूना और उसकी प्रतिकृति का पेंसिल-स्केच भी रहेगा। इस प्रकार, आशा है, यह सग्रह अद्वितीय सिद्ध होगा और समस्त हिन्दी-प्रेमी जनता को राष्ट्रभाषा की नवीन काव्य-रचना की प्रगति को समझने और अध्ययन करने मे सुविधा प्राप्त होगी।

प्रस्तुत संग्रह इस माला का तृतीय पुष्प है। श्री रामकुमार जी वर्मा का हिन्दी के आधुनिक कवियों मे श्रेष्ठ स्थान है। रहस्यवाद के गिने-चुने कवियों में उनकी गिनती है। ओरछा-नरेश द्वारा प्रदत्त २०००) का 'देव पुरस्कार' भी उन्हें प्राप्त हो चुका है। हमे विश्वास है कि पाठकों को इस संग्रह द्वारा कवि के काव्य का व्यक्तित्व और मर्म समझने में विशेष सहायता मिलेगी।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग

विनीत
साहित्य-मंत्री
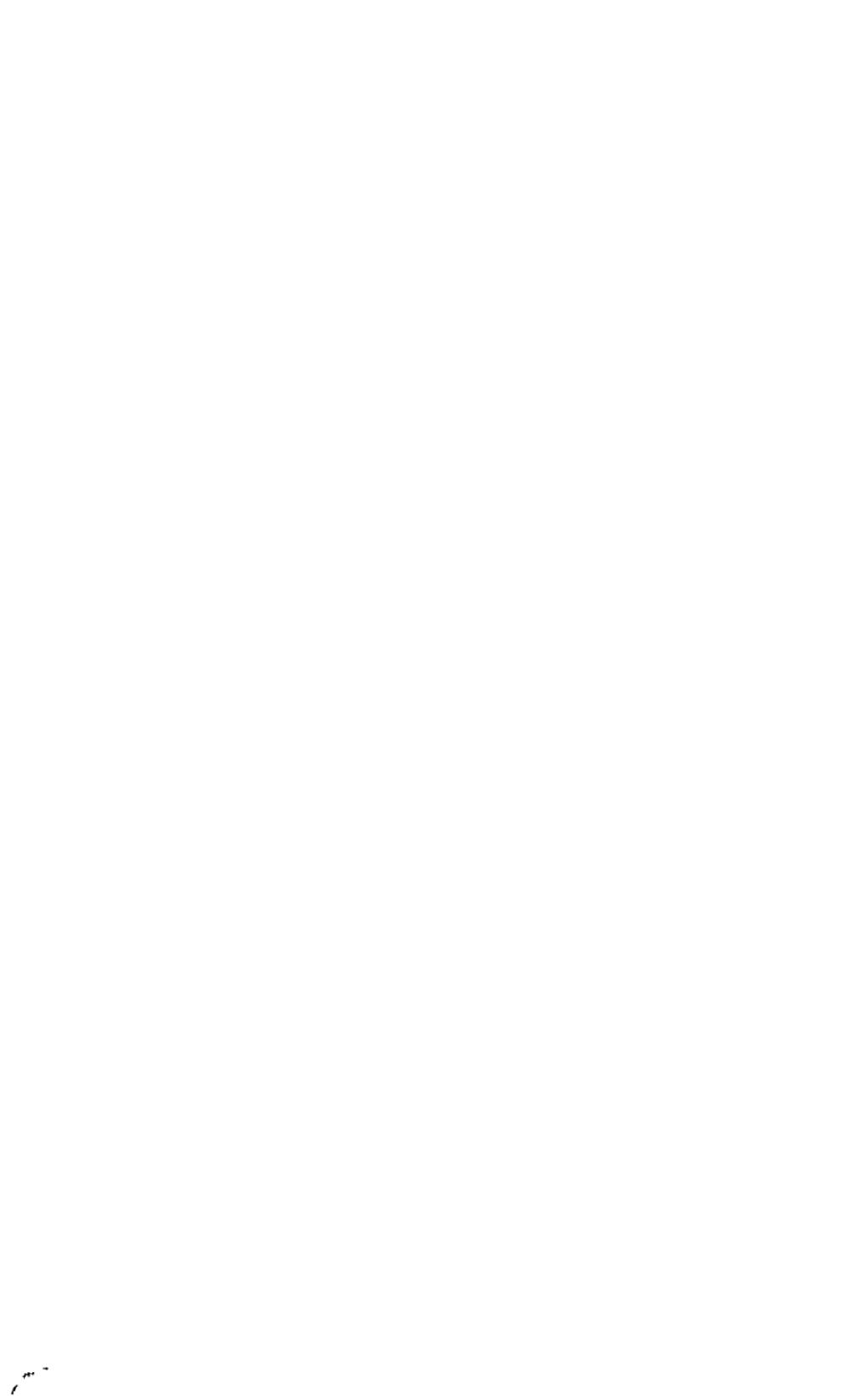
ापि

प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,

जग के कण कण में क्या बिखराऊँ ?

शब्दों के अधखुले द्वार से,

अभिलाषाएँ निकल न पातीं।

उच्छ्वासों के लघु लघु पथ पर,

इच्छाएँ चल कर थक जातीं।

हाय, स्वप्न-संकेतों से मैं,

कैसे तुमको पास बुलाऊँ ? प्रिय०

जूही-सुरभि की एक लहर से,

निशा बह गई डूबे तारे,

अश्रु-बिन्दु में डूब डूब कर,

दृग-तारे ये कभी न हारे।

दुख की इस जागृति में कैसे,

तुम्हें जगा कर मैं सुख पाऊँ ?

प्रिय, तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

ई १९३८

अपना प्रदर्शन करती है तब वह ऐसी अप्सरा हो जाती है जिसके पास केवल रूप ही रूप है, हृदय का उष्ण स्पन्दन नहीं। उसने अपने अस्तित्व को केवल रूप मे ही लीन कर दिया है। प्रभातकाल की भाँति उसके पास केवल कंठ का कलरव है जो दो घंटो मे समाप्त हो जाता है। रेशम के कीडे की भाँति उसने अपने ऊपर कोमलता का ताना बाना गूँथ रक्खा है। वह उसे काट कर नहीं निकल सकती, वह उस कीडे मे भी हीन है। साहित्य के शव पर बैठ कर कला का यह कापालिकत्व किसी कपाल कुण्डला को वश मे नही रख सकता।

मनुष्य के हृदय का साम्राज्य कितना व्यापक है! संसार में फैले हुए किसी भी राष्ट्र से अधिक इसकी परिधि है। किन्तु इस साम्राज्य की सीमा छूने का प्रयत्न भी हमारे विज्ञान का भौतिकवाद नहीं करना चाहता। वह अपने जडवाद मे पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है। यो उसने हमे जीवन की अनेक सुविधाएँ दी हैं किन्तु क्या उससे हमारी आत्मा में जागृति आ सकी है? इन्द्रियो के विषय उसके द्वारा हमे सहज ही प्राप्त हो गए हैं किन्तु क्या वासनाओ की पूर्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है? हमारी इच्छाओं की अंगूरी बेल को ऊपर चढने का सहारा उसके द्वारा अवश्य मिला है किन्तु इससे हमे मादकता के अतिरिक्त और क्या मिला? हमने इसकी शक्ति से सांसारिक आनन्द के निर्जीव शव को गोद मे उठा लिया है, उसके प्राण की उपेक्षा की है। मिट्टी के ढेले पर ही हम रीझ गए हैं, उसके अन्तर्गत रङ्गीन फूल के बीज पर नहीं। स्पर्श का चरमोत्कर्ष हमारे लिए प्रेम का प्रमाण-पत्र बन गया है। हम अपने स्वार्थ की रोटी खाकर बीमार होने की सीमा तक पहुँच गए हैं और अपनी औषधि मे भी वही रोटी चाहते हैं। यह विज्ञान हमारे समस्त सुखो का कोषाध्यक्ष होना चाहता है; जीवन की इकाई में आडंबरों के शून्य जोड़ कर वह सहस्रो का गुमान करना चाहता है। वह इतना दुष्ट है कि संसार को बिगाड़ने के लिए ही बार बार बनाता है। उसकी अग्नि से विनाश की अग्नि जल सकती है किन्तु वह आश्चर्य का प्रकाश बन कर हमे आकर्षक किरणों से लुभाता है। अपने

होता है। "मैं" चिरन्तन भावनाओं मे 'सब' का रूप धारण करता है और भावना के किसी विशेष दृष्टि-बिन्दु में 'सब' 'मैं' में आकर सकुचित हो जाता है। तब व्यक्तिगत भावनाएँ विश्व की समस्त गति में अबाध रूप से बहती हैं और समस्त सृष्टि का सगीत एक कण के कपन मे स्पन्दित होने लगता है। जिस दैवी क्षण में कवि अपने को इस असीम प्रकृति में विलीन कर देता है उस समय सृष्टि के समस्त रहस्य उसकी वाणी मे फूट निकलते हैं। वह अपनी भावनाओं के भीतर किसी प्रजापति को देखता है जो क्षण क्षण में ससार का निर्माण और विनाश करता है। रूप और ध्वनियाँ साकार और निराकार होती हैं, दृश्य और अदृश्य उसे अपने संगीत से ओतप्रोत कर देते हैं। समस्त जगत हृदय मे गतिशीलता भर कर तिरोहित हो जाता है, उसी गतिशीलता का नाम 'कविता' है।

यह गतिशीलता ध्वनि और छन्द मे प्रकट होती है। प्रकृति के समस्त रहस्यों को अपनी पदावली मे केन्द्रीभूत कर कवि स्वय स्रष्टा के रूप में हो जाता है। वह ससार को उसके वास्तविक स्वरूप का सन्देश देता है। ससार को आश्चर्य होता है अपने ही उस महान् सौन्दर्य पर जो उसमें इतने काल से छिपा हुआ था। अत. इस छिपे हुए सौन्दर्य को कविता मे स्पष्ट कर देना ही कवि का महान् धर्म है। कवि साधारण मनुष्य से भिन्न होता है। वह जानता है कि किस प्रकार वह अपने को प्रकृति की गति-शीलता मे लीन कर दे और उसके सहारे वह उसके कोने कोने से परि-चित होकर उन तथ्यों को प्रकाशित करे जिनसे जीवन बना हुआ है— जिनसे सौन्दर्य में आनन्द की सृष्टि हुई है। सौन्दर्य मे इस आनन्द का प्रादुर्भाव करना ही कविता का चरम आदर्श है।

आनन्द का प्रादुर्भाव करने के लिए कवि किस प्रकार सौन्दर्य मे प्रवेश करता है? कवि की अनुभूति भावना के किसी केन्द्र-बिन्दु पर जाकर तीक्ष्ण बन जाती है जिससे वह रहस्य के भीतर घुँस सके। जब तक कवि अपनी भावना में केन्द्र-बिन्दु स्थापित नहीं करेगा, वह किसी सौन्दर्य का उद्घाटन नहीं कर सकता। एक झील को ही लीजिए। वह अपनी समस्त

परिधि तोड कर शून्य हो जाय—मुक्त आकाश हो जाय—तो उसकी ध्वनि निकल कर असीम मे गतिशील हो जाय और वह समष्टि मे ही निर्विकार होकर संचरण करने लगे। यही भावना रहस्यवाद का प्रवेश-द्वार है।

रहस्यवाद आत्मा मे विश्वात्मा की अनुभूति है। उसमे विश्वात्मा का मौन आस्वादन है। प्रेम के आधार पर वह आत्मा और विश्वात्मा में ऐक्य स्थापित करता है। मै 'ऐक्य' ही कहता हूँ 'एकीकरण' नहीं। एकीकरण की भावना अद्वैतवाद मे है और ऐक्य की भावना रहस्यवाद मे। अद्वैतवाद और रहस्यवाद मे कुछ भिन्नता है। अद्वैतवाद मे मिलाप की भावना का ज्ञान भी नहीं रहता, रहस्यवाद मे यह मिलाप एक उल्लास की तरग बन कर आत्मा मे जागृत रहता है। जब एक जल-बिन्दु अनन्त जलराशि मे मिल कर अपना व्यक्तित्व खो देता है तब उस अपने अस्तित्व का ज्ञान भी नहीं रहता। वह भावना अद्वैतवाद की है। लेकिन रहस्यवाद मे अस्तित्व का पूर्ण विनाश नहीं होने पाता। मिलाप की भावना रहते हुए भी व्यक्तित्व की यह सूक्ष्म जागृति रहती है कि "मै मिल रहा हूँ।" आत्मा विश्वात्मा से मिल कर भी यह कह सकती है कि "मै अपने लाल की लाली जहाँ देखती हूँ वहीं पाती हूँ। जब मै उस लाली को निकट से देखने जाती हूँ तो मै भी लाल हो जाती हूँ।" यहाँ मैं और लाल मे एकता होते हुए भी दोनो का अस्तित्व ज्ञान अलग अलग है। व्यक्तित्व का अभिज्ञान रहते हुए इस मिलाप की आनन्दानुभूति ही रहस्यवाद की अभिव्यक्ति है। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे 'दो पक्षियों' का रूपक देकर आत्मा और ब्रह्म की अलग सत्ता निरूपित की गई है।[1]

जलालुद्दीन रूमी ने भी आग और तपे हुए लोहे के लाल गोले के रूपक से रहस्यवाद की भावना स्पष्ट की है। जब लोहे का गोला आग से

---

[1]द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ ६ ॥
(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४–६–७)

सुरक्षित रखता है। इसलिए सूफ़ीमत में हक़ को 'लाहूत' और 'नासूत' इन दो गुणों से विभूषित किया गया है। लाहूत का संबन्ध हक़ की आध्यात्मिक शक्ति-सपन्नता से है और नासूत का संबन्ध सांसारिकता से। ब्रह्म ससार में रहते हुए भी संसार से परे है। यह बात साधक में नहीं होती, अतः ब्रह्म के समक्ष वह अप्रधान है। इसीलिए साधक अपने संपूर्ण आत्म समर्पण के साथ ब्रह्म के समीप पहुँचता है। वह अपनी गति-शीलता में ब्रह्म के समान अवश्य ज्ञात होने लगता है जिस प्रकार गति में एक विन्दु भी रेखा बन जाता है। और आग की एक चिनगारी अपनी गति-शीलता में सूर्य का मण्डल बना लेती है लेकिन अन्ततः वह अपने वास्तविक रूप में एक विन्दु या चिनगारी ही है। इस रहस्यवाद की भावना मे प्रेम की प्रधानता है। यह प्रेम ही आत्मा को ब्रह्म के समीप ले जाता है और आत्म-समर्पण मे परिणत होता है। इस प्रेम मे स्वार्थ या आत्म-तुष्टि की भावना नहीं होती, इसमे होती है एक मात्र अपनी अभिव्यक्ति। इसी अभिव्यक्ति मे आत्मा ब्रह्म मे जीवित रहती है जैसे एक तारा पूर्णिमा के चन्द्र प्रकाश मे अपना आत्म-समर्पण करते हुए भी आकाश में चमकता है।

प्रेम का प्रादुर्भाव विवेक मे नही है। उसकी उद्भावना भाव में है। इसीलिए प्रेम के लिए ज्ञान की आवश्यकता नही है, वह तो आत्मा का अत्यन्त मधुर संगीत है जिसकी तरंग में व्यष्टि समष्टि में परिणत होता है। विवेक तो शैतान है जो साधक को भावना पथ से दूर ले जाकर तर्क की मरुभूमि मे छोड देता है। इसलिए रहस्यवाद मे ज्ञान और विवेक के लिए कोई स्थान नहीं है। अनुभूति के लिए पाण्डित्य की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है जीवन के निकटतम स्पर्श की और यह स्पर्श प्रेम की अत्यन्त मादक और तीव्र शक्ति से सहज ही प्राप्त किया जा सकता है।

इस प्रेम की चरम अभिव्यक्ति दाम्पत्य प्रेम में है। अन्य प्रकार का प्रेम किसी न किसी परिस्थित में अपूर्ण है, इसकी पूर्णता एक मात्र दाम्पत्य संबन्ध मे है। आत्म समर्पण की भावना इसी दाम्पत्य प्रेम मे फलीभूत

निष्ठुर प्रेमी की भाँति दृष्टिगत होता है जो प्रेम करने की क्षमता लिए हुए भी प्रेम नहीं करता। उसे प्रसन्न करने के लिए शरीर नष्ट करना भी साधारण सी बात है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म अलौकिक धरातल से नीचे आकर एक व्यक्ति की भाँति ज्ञात होने लगता है। वह सरलता से मानव-हृदय की समझ में आने लगता है। प्रेमी अपने ब्रह्म को अपने ही क्षेत्र में लाकर उससे प्रेम करना चाहता है। कबीर ने रहस्यवाद में आत्मा को विरहिणी का रूप देकर अपने निराकार ब्रह्म को भी व्यक्तित्व के अन्दर सीमित कर दिया है। वे कहते हैं—

बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
जिव तरसै तुव मिलन कूँ मनि नाहीं विश्राम ॥[1]

इस प्रेम में प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है—चातुर्य की भी नहीं। इसमें तो निश्छल भाव से अपने आराध्य की अत्यन्त सरलता से अनुभूति होनी चाहिए। कपट के लिए तो कहीं स्थान ही नहीं है। अपने को उच्च आसन पर अधिष्ठित कर प्रेम करने की प्रवृत्ति कमरे में ऊँट खोजने के समान है। रूमी ने अपनी मसनवी में इस संबन्ध में एक बड़ी मनोरंजक बात कही है। एक राजा अपने महल में सो रहा था। आधी रात को उसे कमरे में कुछ आहट मिली। उसने जाग कर पूछा—कौन है? आवाज आई कि हम लोग अपना ऊँट खोज रहे हैं। बादशाह ने कहा—ऊँट? क्या ऊँट इस कमरे में है? उन लोगों ने कहा कि हम लोग इस कमरे में उसी तरह ऊँट खोज रहे हैं जैसे तू ऊँचे तख्त पर बैठ कर ईश्वर से मिलने का इरादा कर रहा है।[2]

---

[1] कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८

[2] सरफ़रो करदन्द कौमे बुल अजब। मा हमी गरदेम शब बहरे तलब ॥
हैं चे मी जोयेद गुफ्तन्द उशतुराँ। गुफ़्त उशतर बाम बर के जुस्त हाँ ॥
पस बगुफ्तन्दश कि तू बर तख्ते जा। चू हमी जोई मुलाक़ाते इला ॥
(मसनवी—जलालुद्दीन रूमी)

है जैसे आनन्द की अभिव्यक्ति संगीत में है, विकास की अभिव्यक्ति जीवन में है। इस प्रकार रहस्यवाद में निम्नलिखित तत्त्व निहित हैं—

(१) आत्मा में आध्यात्मिक दृष्टि से अनुभूति की क्षमता हो। अर्थात् आन्तरिक दृष्टि से वह अपने आराध्य को खोजने के लिए सूर्य की किरण की भाँति सर्वत्र गतिशील हो। वह अपनी यात्रा में दिशाओं को इसी पार छोड़ कर आगे बढ़ जाय। वह सप्ताकाश से भी ऊपर जाने की क्षमता रखे।

(२) उसमें अपने आराध्य से मिलने की भावना का स्मरण रहे। आत्मा और आराध्य में ऐक्य हो, एकीकरण नहीं। आत्मा के व्यक्तित्व का विनाश न होकर विकाश हो।

(३) आत्मा और आराध्य में प्रेम निश्छल रूप से प्रगतिशील रहे। इस प्रेम में आत्म-समर्पण की भावना है। दाम्पत्य प्रेम के अनुरूप ही इसमें संपूर्ण व्यक्तित्व अनुराग से ओतप्रोत हो उठे।

रहस्यवाद की कविता इन तीनों तत्त्वों को लेकर एक आनन्दानुभूति में जन्म लेती है। यह आत्मा की सब से पवित्र अभिव्यक्ति है। मेरी कविता के दृष्टिकोण में यही रहस्यवाद रहा है और इसी में मेरी भावनाओं का विकास हुआ है।

मैं यहाँ एक बात और स्पष्ट कर दूँ। कविता भावना के संघर्ष में चिनगारी की भाँति फूट निकलती है। सुख की अपेक्षा दुःख में प्राणों का अधिक स्पन्दन होता है और प्राणों के स्पन्दन के साथ ही कविता गूँज उठती है। यही कारण है कि सूरदास संयोग-शृङ्गार का उतना कवित्वमय चित्रण नहीं कर सके जितना वियोग-शृङ्गार का। दुःख में कविता स्वाभाविक रूप से आवश्यक हो जाती है। सांसारिक जीवन के साथ तो दुःख उसी प्रकार है जैसे दीपक के चमकीले वक्ष के भीतर जलन। मनुष्य दर्पण होकर भी अपनी परछाईं में बैठा है। वह दर्पण के पीछे बैठ कर अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहता है। और यहीं दुःख का आरंभ होता है। इस प्रकार दुःख कविता की बड़ी प्रेरक शक्ति है। उसीमें जीवन का विवेचन है और अभाव

का सकेत। एक कवि यह सब स्वाभाविक रीति से कह जाता है, उसे किसी प्रकार भी प्रयास की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रयास में कविता नहीं है—कविता का भ्रम है।

आधुनिक समय के कवि छन्द को कविता का बन्धन मानते हैं। वे मुक्त वृत्ति में अपनी भावनाओं को उँडेल कर निर्द्वन्द्व रूप से कविता लिखे चले जाते हैं। यह स्वतन्त्रता उन्हें भावों के प्रकाशन में स्वच्छन्दता भले ही प्रदान करे किन्तु यह कविता के नादात्मक रूप की, उसके नैसर्गिक सौन्दर्य की उपेक्षा करती है। कविता की विशेषता तो इसी में है कि वह नियमों के अन्तर्गत रहती हुई भी उनसे परे हो जाती है। फूल पंखड़ियों में सीमित रहते हुए भी अपनी सुगन्धि में असीम है, सिन्धु अपनी मर्यादा में रहते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता में विराट् है। पक्षी पंखों के बन्धन में रहते हुए भी गगन-मण्डल में विचरणशील है। अपने नियमों से ही कविता स्वतंत्रता की परिधि तक पहुँचती है। उसकी स्वतत्रता में उसके नियम ही सहायक हैं। यदि कविता नियम रहित हो जाय तो वह अपनी उच्छृङ्खलता में सौन्दर्य का ही विनाश करती है और बिना सौन्दर्य के स्वतन्त्रता केवल विशृङ्खलता (Chaos) में परिवर्तित होगी।

अतः मैं कविता में उसके भावात्मक और रूपात्मक दोनों प्रकार के सौन्दर्य का समर्थक हूँ। कविता अपनी गति में ही स्वतन्त्र होती है—वह अक्षरों, शब्दों, और मात्राओं से परे होती है। जिस प्रकार जीवन में आन्तरिक सौन्दर्य के साथ ही साथ, बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा है, सिद्धान्त के साथ आचरण की एकरूपता अपेक्षित है, उसी प्रकार कविता में भी अनुभूति के साथ नियमित गति होनी चाहिए।

आधुनिक कविता में विलास और निराशा की भावना विशेष रूप से है। हमारा कवि दूध पीने वाले बच्चे की तरह इन्द्रियों की गोद में बैठ कर बन्दी हो गया है। फूल अपने लिए फूलता है, काला कीट उसे चुपके से खा डालता है। सौन्दर्य चेतनता की निधि है, विलास उसका विनाश करता है। इन्द्रियों की अग्नि प्रेम को जला देती है। तृप्ति होने पर प्रेम और सौन्दर्य

रह कहाँ जाता है ? प्रेम के धनुष पर बैठ कर यह विलास बाण की तरह चलता है किन्तु अन्त में पतन ही उसका ध्येय है। विलास तभी स्थायी होता है जब उसमें एक व्यञ्जना होती है—सूर और उमरख़ैयाम की कविता मे जो विलास है वह चिरन्तन है। इसी भाँति अध्यात्म क्षेत्र मे निराशा का मूल्य बहुत अधिक है। कबीर ने अपने पदों में तो आत्मा को 'विरहिन' माना है लेकिन भौतिक क्षेत्र मे निराशा श्लाघ्य नही है। मैं रहस्यवाद की निराशा का पोषक हूँ भौतिकवाद की निराशा का नही। विनाश और मृत्यु मे मनुष्य का विकास और जीवन है। मृत्यु की सुई अपने पीछे जीवन का धागा लिए हुए है। जिस प्रकार एक वृत्ति की परिधि मे बैठा हुआ अन्तिम बिन्दु फिर प्रथम बिन्दु हो जाता है उसी प्रकार विनाश मे ही विकास का जन्म होने लगता है। आदि को लौटना ही अन्त का दूसरा नाम है। अतः विकास और विनाश में विरोध नही है। वे जीवन के चिरप्रवास के विश्राम हैं।

कविता मे स्थान स्थान पर मेरे यही विचार अंकित हुए हैं। इसके आगे अपनी कविता की आलोचना करने मे मै असमर्थ हूँ। एक ही भावना से विविध प्रकार की कल्पनाएँ क्यों और कैसे हुई यह मै जानने में असमर्थ हूँ। एक ही मिट्टी और पानी मे क्या बात हो गई कि भिन्न भिन्न रंग के फूल और काँटे एक साथ निकल आए ?

रामकुमार

कविताओं का क्रम

आधुनिक कवि

३

संकेत

१६३६

१

साँसों के चञ्चल समीर में,

जीवन-दीप जलाऊँ !

बन प्रकाश की ज्योति—

अँधेरे में छिपने को आऊँ !

करुणा के सागर में उठती हैं जब हिल हिलोरें—

प्रिय-दर्शन-वरदान माँगती हैं नयनों की कोरें—

बाँध-बाँध आशा-बन्धन में,

तन मन को सुलझाऊँ !

दूर बसे हो, केवल स्मृति ही आकर यहाँ बसी है—

प्राणों के कण-कण से पीड़ा तुमने यहाँ कसी है—

अभिलाषा-तरु में विकसित हो,

दो दिन में मुरझाऊँ !

२

मेरे इस जीवन-मरु में क्यों रूप-सुधा बरसायी ?
दो क्षण के प्रभात में ऐसी जीवन-निधि क्यों आयी ?
मेरे स्वर परिमित हैं जैसे प्रातः नभ के तारे ।
किन्तु मिलन के भाव न भर सकते हैं सागर सारे ॥
जीवन का यह बाण चुभा है मुझ मे कैसा विषमय !
क्या निकाल सकते हैं अन्तिम क्षण के हाथ तुम्हारे ?
तन के लघु घट में अतृप्ति सागर की लहर उठायी ॥ मेरे०
प्रिय, यह रात बहुत छोटी थी कैसे मैं मिल पाऊँ ?
मेरा स्वर नश्वर है, कैसे गीत तुम्हारे गाऊँ ?
साँसो के टुकड़े कर डाले, वे भी नियमित गति में
कैसे इनमें चिर-मिलाप का जीवन आज सजाऊँ ?
एक सुमन के जीवन ने क्यों यह वसन्त-श्री पायी ? मेरे०

|||

३

तू जीवन का अभिसार लिये—

जग के पीछे क्यों बेकल है,

ये साँसें बस दो-चार लिए !

हँसती थी वह वसन्त-श्री जब,

कोकिल ने स्वर-शृङ्गार किया।

इस व्यथित जगत् को पल भर में,

सुषमा का सुख-संसार किया ॥

लेकिन यह नभ बदला न, झुका ही—

रहा नियति का भार लिये ॥

ओ कवि, तू अब तो जाग,

प्रकृति का यह परिवर्तन पुण्य मान।

यदि कर न सके सुख सृष्टि आज,

तो तू मानस की हार जान ॥

तेरी ही तो साधना जगत् के

उर में है अवतार लिये !

तू जीवन का अभिसार लिये !

४

मैं इस जीवन में आया हूँ
तुमसे परिचय पाने।
एक सत्य को सुख से सौ-सौ
स्वप्नों में उलझाने॥
सागर बनकर ओस-बिन्दु में, आया यहाँ समाने।
उड़ जाऊँगा दो क्षण ही में—
जाने या अनजाने॥
रात्रि दिवस के गीतों से आया संसार सुलाने।
तुम्हें देख लूँगा प्रति पल,
जागृति के लिए बहाने॥
एकाकी हूँ—सुख या दुख को, मेरा उर क्या जाने!
जाग रहा हूँ अन्धकार के—
उर में ज्योति जगाने॥
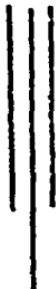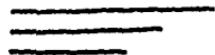
५

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

जिस ध्वनि में तुम बसे उसे,

जग के कण-कण में क्या बिखराऊँ ! प्रिय०

शब्दों के अधखुले द्वार से अभिलाषाएँ निकल न पातीं ।

उच्छ्वासों के लघु-लघु पथ पर इच्छाएँ चलकर थक जातीं ॥

हाय, स्वप्न-सङ्केतों से मैं,

कैसे तुमको पास बुलाऊँ ? प्रिय०

जुही-सुरभि की एक लहर से निशा बह गई, डूबे तारे ।

अश्रु-विन्दु में डूब-डूबकर, दृग-तारे ये कभी न हारे ! !

दुख की इस जागृति में कैसे,

तुम्हें जगाकर मैं सुख पाऊँ ?

प्रिय ! तुम भूले मैं क्या गाऊँ ?

६

जब तुम आये हो एक बार !
तब मैंने जाना है, जीवन बन गया मिलन का एक द्वार ॥
अपनी अभिलाषा का ज्योतित क्षण,
तुम में जाकर हुआ लीन !
जैसे नभ से तारा टूटा,
हो गया मार्ग में निराकार ॥
सिहरन-लहरों में अपनापन,
बह गया दूर, बह गया दूर !
अब मैं क्या हूँ, यह तुम जानो,
यह तुम जानो; मेरे उदार !!
यह ज्योत्स्ना, यह तरु, यह मानव,
ये सब प्रिय क्यों हो रहे ज्ञात ?
कल की कलिका कहती है—
"बन्धन से कैसा सौरभ-प्रसार ?"

७

भूलकर भी तुम न आये !

आँख के आँसू उमड़कर,

आँख ही में हैं समाये ॥

सुरभि से शृङ्गारकर—

नव वायु प्रिय-पथ में समाई,

अरुण कलियों ने स्वय सज,

आरती उर में सजाई ।

वन्दनाकर पल्लवो ने,

नवल वन्दनवार छाये ॥

मैं ससीम, असीम सुख से,

सींचकर संसार सारा ।

साँस की विरुदावली से,

गा रहा हूँ यश तुम्हारा ।

पर तुम्हें अब कौन स्वर,

स्वरकार ! मेरे पास लाये ?

भूलकर भी तुम न आये !

८

मेरे जीवन की ज्योति जाग !
यह नव वसन्त है ? नहीं, यहाँ—
रङ्गों में छिपकर लगी आग ! !
अम्बर का यह विस्तृताकार
सन्ध्या में लेकर तिमिर-भार
है मौन बैठना—यहाँ भूमि है,
भ्रमित हो रही भाग-भाग । मेरे जीवन० ।
रजनी में भी राकेश-कान्ति—
किसको देती है अरे शान्ति ?
उस नव बाला के कलित कण्ठ से—
मुखरित है विचलित विहाग ।
मेरे जीवन की ज्योति जाग !

६

मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—
आया हूँ एक वीतरागी-सा,
केवल अपने प्राण लिए ॥

दो प्रहर बीत भी सके न,
तन जर्जर हो गया—बहुत जर्जर;
जैसे तरु एक—और उसमें
साँसों का गूँज रहा मर्मर,

है शून्य दृष्टि, प्रतिबिम्बित है,
यह शून्य-शून्य-सा अमराम्बर;
तारों के दो आँसू अटके हैं
एक इधर है—एक उधर,

यह फूल खिला है—बेचारा ! !
केवल गिरने का ज्ञान लिए ॥
मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—
यह कौन कह रहा है . . "देखो—
सन्ध्या प्रातः में है अन्तर;

इन साँसों के लघु लघु प्रवाह में
बीत चुके हैं मन्वन्तर,
यह सब संसार सिमिट जैसे—
बस गया आज मेरा अन्तर;
चिर अन्धकार में दीपक सी—
मेरी चितवन हो गई अमर,
मैं जाग्रत हूँ! मैं सोऊँगा क्यों?
बिना एक पहिचान लिए॥
मैं आज तुम्हारे मन्दिर में
पूजा का कुछ सामान लिए—
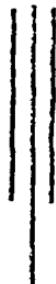
मैं तुमसे मिल जाऊँ।
फूलों के कुछ छन्द बनाकर
इस उपवन में गाऊँ॥
मलय समीरण-सी तुम आओ—
बन्धनहीन विहारिणि,
जगत् तुम्हें क्या पावे ? मैं
अपनी साँसों में पाऊँ॥
सुख-दुख तो कण्टक-से हैं
देखो इनको दुखहारिणि,
ये लगते रहते हैं, जिससे
मन इन में उलझाऊँ॥
मैं तुमसे मिल जाऊँ।

११

वियोगिनि, यह विरह की रात!
आँसुओं की बूँद ही में बह गई अज्ञात!
कब मिले थे वे—तुझे क्या है न कुछ भी याद?
खोजती ही रह गई, जग का बुझा-सा प्रात॥
अन्धकार प्रशान्त था—नभ के हृदय में, और—
तू न उसको पारकर जग में रही अज्ञात॥
वियोगिनि, यह विरह की रात!

१२

तुम्हें आज पाकर चञ्चल हूँ,

मैं आशाओं के उभार मे।

जैसे ये तारे देखो—

दुहरे-तिहरे हो उठे धार मे॥

ध्वनि-लहरें हिल-डोल उठीं, इस पार और उस पार हमारे,

जैसे मौन सुरभि की लघु गति,

फैल गई है हार हार में॥

ज्योत्स्ना है, मानो अपने वे रजत स्वप्न सच होकर आ,

जुही झाँकती है समीर को,

लता-कुंज के द्वार द्वार में॥

आओ, अपनी छाया में हम प्रेम-मिलन के चित्र निहारें,

एक बार में दो मिलाप हैं,

देखो तो अपने विहार में॥

इसी मिलन के बल पर मैं, नश्वरता सुख से सहन करूँगा।

अपनेपन का भार खो चुका,

अश्रु-धार के एक ज्वार में॥

१३

मैं जीवन में जाग गया !

धूमराशि-सा गिरकर, उठकर,

सुख-दुख का भय भाग गया ! !

कोकिल कूक उठी क्षण भर में,

अनायास पञ्चम था स्वर में।

एक मधुर वर्षा, मधु-गति से—

बरस गई मेरे अम्बर में ॥

स्पर्श, शब्द, रस, रूप, गन्ध का—

क्या अनुराग, विराग गया ?

दीप शिखा वह हिलकर घूमी,

शलभ-राशि छवि-मद में झूमी।

नेत्र देखते रहे—दैत्य-सी

ज्वाला ने कोमलता चूमी ॥

और शलभ, वह दीपक को—

जग में जलता ही त्याग गया ! !

मैं जीवन में जाग गया !

चन्द्रकिरण

१९३७

१

मै तुम्हारे नूपुरो का हास।
लघु स्वरों में बन्द हो
पाऊँ चरण मे वास।
मैं तुम्हारी मौन गति मे
भर रहा हूँ राग;
बोलता हूँ यह जताने
हूँ तुम्हारे पास।
चरण-कम्पन का तुम्हारे
हृदय में मृदु भाव।
कर रहा हूँ मैं तुम्हारे
कण्ठ का अभ्यास।
हूँ तुम्हारे आगमन का
पूर्व लघु सन्देश;
गति रुकी, तो मौन हूँ,
गति में अखिल उल्लास।
मैं चरण ही में रहूँ
स्वर के सहित सविलास;
गति तुम्हारी ही बने
मेरा अटल विश्वास।

२

शून्य से उन्मुक्त कर
करुणा-कणों की यामिनी !
भावना की मुक्ति मुझको
दे सकोगी स्वामिनी ?
वायु की साँसे बिखरकर
पा रही निर्वाण है;
यह सुरभि भी वायु की है
बन रही अनुगामिनी।
यदि मुझे आभास देते—
हो कि बन्धन सत्य है;
घोर घन-प्राचीर मे तो
क्यों व्यथित है दामिनी ?
दो मुझे वह सत्य, जो
संसार का शासन करे;
चिर दुखों की रात्रि भी
मुझको बने मधुयामिनी।

३

एक दीपक-किरण-कण हूँ।

धूम्र जिसके क्रोड़ में है,

उस अनल का हाथ हूँ मैं।

नव प्रभा लेकर चला हूँ,

पर जलन के साथ हूँ मैं।

सिद्धि पाकर भी तुम्हारी

साधना का ज्वलित क्षण हूँ। एक०

व्योम के उर में अपार

भरा हुआ है जो अँधेरा -

और जिसने विश्व को

दो बार क्या, सौ बार घेरा।

उस तिमिर का नाश करने—

के लिये मैं अखिल प्रण हूँ। एक०

शलभ को अमरत्व देकर

प्रेम पर मरना सिखाया।

सूर्य का सन्देश लेकर

रात्रि के उर में समाया।

पर तुम्हारा स्नेह खोकर—

भी तुम्हारी ही शरण हूँ। एक०

४

करुणा की आई छाया।

कोकिल ने कोमल स्वर भर
कुञ्जों-कुञ्जों में गाया।
जब विश्व व्यथित था, तुमने
अपना सन्देश सुनाया;
तरु के सूखे-से तन में
नव जीवन बनकर आया।
अपनी साँसों पर जीवन
कितनी ही बार भुलाया;
पर इतने रूपों में भी
क्या मैंने तुमको पाया!
यह जीवन तो छाया है,
केवल सुख-दुख की छाया;
मुझको निर्मितकर तुमने
आँसू का रूप बनाया।

करुणा की आई छाया।

५

मेरे जीवन में एक बार
तुम देखो तो अनुपम स्वरूप;
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!
राका-शशि अपनी रश्मि माल
जब रजनी को पहनाता हो;
अथवा जब फूलों के तन से
प्रेयसि सुगन्धि का नाता हो,
जब विमल ऊर्मि में लघु बुद्बुद
उल्लास-पीन लहराता हो;
जब तरु से लतिका का अन्तर
मधु-ऋतु में कम हो जाता हो,
उस समय हँसो, तो बरस पड़े
कण कण में विश्वों का स्वरूप।
मैं तुममें प्रतिबिम्बित होऊँ,
तुम मुझमें होना ओ अनूप!

६

वह बोल उठी कोकिल अधीर !
मेरे वसन्त के भीतर भी
दिख पड़ी शिशिर की क्या लकीर ?
उसने तो मधु-ऋतु में गाया;
पर क्यों उसका उर भर आया,
क्या देखी उसने धूल, जहाँ मेरी प्रेयसि का है शरीर ?
उसने निज स्वर इस ओर किया,
कुसुमित तरु को झकझोर दिया,
गिर पड़े भूमि पर मतवाले-से
कामदेव के सुमन-तीर।
मत बोल, मौन हो ओ अधीर !
यह निशा शान्त है यह समीर।
मेरी प्रेयसि का मधुर स्वप्न
कर्कश स्वर से मत आज चीर।
वह बोल उठी कोकिल अधीर !

७

मैं सुखी और यह विश्व विकल।
तारे किस आशा से प्रतिदिन
शून्य गगन में रहे निकल।
इस तृष्णा का पाया न अन्त;
फिर-फिर क्यों कुसुमित हो वसन्त,
बादल का लेकर विकृत रूप;
क्यों अस्थिर हो सागर अनन्त?
उषा, न कोई मिला, कर चुकी
कितने ही शृंगार विफल।
मेरे जीवन की रेख श्वास;
अपनेपन से ही कर विलास,
होकर अपनी ही परिधि मञ्जु,
रोती-हँसती बन रुदन-हास।
प्रतिपल चलकर भी यह मुझको
बना चुकी अविकल, अविचल।
मैं सुखी और यह विश्व विकल।

८

आज देख ली अपनी भूल।
सुन्दरता के चयन हेतु
तोड़े मुरझानेवाले फूल।

जिस जीवन में हूँ मैं अथ से;
निकल रहा साँसों के पथ से,
रात्रि-दिवस की श्याम-श्वेत गति,
समझ रहा हूँ मैं अनुकूल।

समय हँसा, सुख उसको जाना,
यह जग तो था एक बहाना,
ये ग्रह, ये नक्षत्र कुछ नहीं,
नभ में हँसती है कुछ धूल।
आज देख ली अपनी भूल।

|||

चित्ररेखा

१९३५

१

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात !

एक स्वप्न बन गई तुम्हारे प्रेम-मिलन की बात !

तुमसे परिचित होकर भी मैं

तुमसे इतनी दूर !

बढ़ना सीख-सीखकर मेरी

आयु बन गई क्रूर !!

मेरी साँस कर रही मेरे जीवन पर आघात ॥

देव, मैं अब भी हूँ, अज्ञात !

यह ज्योत्स्ना तो देखो, नभ की,

बरसी हुई उमङ्ग,

आत्मा-सी बनकर छूती है

मेरे व्याकुल अङ्ग ।

आओ, चुम्बन-सी छोटी है यह जीवन की रात ॥

देव, मैं अब भी हूँ अज्ञात !

२

यह तुम्हारा हास आया ।
इन फटे-से बादलों मे कौन-सा मधुमास आया ?
यह तुम्हारा हास आया ।
आँख से नीरव व्यथा के
दो बड़े आँसू बहे हैं,
सिसकियों मे वेदना के
व्यूह ये कैसे रहे हैं ।
एक उज्ज्वल तीर-सा रवि-रश्मि का उल्लास आया ॥
यह तुम्हारा हास आया ।
आह, वह कोकिल न जाने
क्यों हृदय को चीर रोई ?
एक प्रतिध्वनि-सी हृदय में
क्षीण हो हो हाय, सोई ।
किन्तु इससे आज मैं कितने तुम्हारे पास आया !
यह तुम्हारा हास आया ।

३

मैं भूल गया यह कठिन राह।

इस ओर एक चीत्कार उठा, उस ओर एक भीषण कराह

मैं भूल गया यह कठिन राह।

कितने दुख, बनकर विकल साँस

भरते हैं मुझ में बार बार,

वेदना हृदय बन तड़प रही

रह रह कर करती है प्रहार,

यह निर्झर—मेरे ही समान

किस व्याकुल की है अश्रुधार!

देखो, यह मुरझा गया फूल

जिसको कल मैंने किया प्यार!

रवि-शशि ये बहते चले कहाँ, यह कैसा है भीषण प्रवाह

मैं भूल गया यह कठिन राह।

किसने मरोड़ डाला बादल

जो सजा हुआ था सजल वीर!

केवल पल भर में दिया हाय,

किसने विद्युत का हृदय चीर!!

इतना विस्तृत होने पर भी

क्यों रोता है नभ का शरीर!

वह कौन व्यथा है, जिस कारण
है सिसक रहा तरु में समीर ! !
इस विकल विश्व में भी बोलो, क्यों मेरे मन में उठी चाह !
मैं भूल गया यह कठिन राह ।

वारिधि के मुख में रखी हुई
यह लघु पृथ्वी है एक ग्रास,
जिसमें रोदन है कभी, या कि
रोदन के स्वर में अट्टहास,
है जहाँ मृत्यु ही शान्ति और
जीवन है करुणामय प्रवास,
वय के प्याले में क्षण क्षण के कण
बढ़ा रहे हैं अधिक । प्यास ।
दो बूँदों में ही जहाँ समझ पड़ती सागर की अगम थाह ॥
मैं भूल गया यह कठिन राह ।

यह नव बाला है, नारि-वेष—
रखकर आया है क्या वसन्त !
जिसकी चितवन से पञ्चबाण
निकला करते हैं बन अनन्त,
जिसकी करुणा की दृष्टि विश्व—
सञ्चालित कर देती तुरन्त,
उसके जीवन के एक बार के
क्षुद्र प्रणय में व्यथित अन्त !
यह छल है, निश्चय छल ही है, मैं कैसे समझूँ इसे आह ! !
मैं भूल गया यह कठिन राह ।

रजनी का सूनापन विलोक
हँस पड़ा पूर्व में चपल प्रात,
यह वैभव का उत्पात देख
दिन का विनाश कर जगी रात,
यह प्रतिहिंसा इस ओर और
उस ओर विषम विपरीत बात,
नभ छूने को पर्वत-स्वरूप
है उठा धरा का पुलक गात।
है एक साँस में प्रेम दूसरी साँस दे रही विषम दाह॥
मैं भूल गया यह कठिन राह।
ओसों का हँसना बाल-रूप
यह किसका है छविमय विलास?
विहगों के कण्ठो में स-मोद
यह कौन भर रहा है मिठास?
सन्ध्या के अम्बर में मलीन
यह कौन हो रहा है उदास?
मेरी उच्छ्वासो के समीप
कर रहा कौन छिपकर निवास?
अब किसी ओर चीत्कार न हो,
मै कहूँ न अब दुख से कराह!!
'मैं भूल गया यह कठिन राह।'

४

फैला है नीला आकाश।
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
फैला है इतना आकाश॥
तुम हो एक साँस-सी सुखकर
नभ-मण्डल है एक शरीर।
यह पृथ्वी मधुमय यौवन है
तुम हो उस यौवन की पीर॥
पथ बतला देना तारक—
दीपक का दिखला नवल प्रकाश।
सुरभि, तुम्हें उर में भरने को
मैं फैलूँगा बन आकाश॥

५

मेघों का यह मण्डल अपार
जिसमें पडकर तम एक बार ही
कर उठता है चीत्कार ! !
ये काले काले भाग्य अङ्क
नभ के जीवन में लिखे हाय !
यह अश्रु-बिन्दु-सी सरल बूँद भी
आज बनी है निराधार ! !
यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश की—
जननी छविमय प्रभापूर्ण,
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ
बिखराती घन-केशान्धकार ! !
जीवन है साँसों का छोटे छोटे—
भागों में चिर विलाप,
अब भार-रूप हो रही मुझे
मेरी आँखों की अश्रु-धार ॥
वर्षा है, नभ औ' धरा बीच
मिलने का है क्या बँधा तार ?
नभ में कैसा रोमाञ्च हुआ
बिजली का विचलित वेष धार ! !

सुख दुख के चरणों से विशाल

करता है सम्मुख नृत्य कौन !

मैं भूल रहा हूँ; मेघ आज

रोकर कैसे है निराकार ! !

६

जीवन-सङ्गिनि चञ्चल हिलोर।
प्रति पल विचलित गति से चलकर,
अलक्षित आ तू इसी ओर॥
मैं भी तो तुझ-सा हूँ विचलित,
कठिन शिलाओं से चिर परिचित,
प्रतिबिम्बित नभ-सा चञ्चल चित,
फेनिल के आँसू से चर्चित,
जान न पाता हूँ जीवन का—
किस स्थल पर है सुखद छोर॥
सुनें परस्पर सुख-ध्वनियाँ हम,
मैं न अधिक हूँ, और न तुम कम,
आज न कर पाऊँगा संयम,
मै न बनूँ तो, तू बन प्रियतम,
मृदु सुख बन जावे इस क्षण में—
विरह-वेदना अति कठोर।
जीवन-सङ्गिनि चञ्चल हिलोर॥

७

इस भाँति न छिपकर आओ।
अन्तिम यही प्रतीक्षा मेरी
इसे भूल मत जाओ॥
रजनी के विस्तृत नभ को जब मैं दृग में भर लेता,
एक एक तारे को कितने भाव-युक्त कर देता!
उसी समय खद्योत एक, आता वातायन द्वारा,
मैं क्या समझूँ, मुझे मिला उज्ज्वल सङ्केत तुम्हारा!
प्रियतम, मेरी स-तम निशा ही को
शशि-किरण बनाओ॥
वह उपवन फूला, पर बोलो उसमें शान्ति कहाँ है!
सुमन खिले, मुरझाये, सूखे, गिरे, वसन्त यहाँ है!
नहीं, मृत्यु ने यहाँ परिधि मे बाँधा है जीवन को,
सुख तो सेवक बन रक्षित रखता है दुख के धन को।
प्रियतम, शाश्वत जीवन बन
मन में तो आज समाओ॥
इस भाँति न छिपकर आओ।

८

निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
चल अविचल जल कल-कल पर
गुञ्जित कर गति की लघु लहरी॥
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
साँसों के दो पतवार चपल,
सम्मुख लाते हैं नव नव पल,
अविदित भविष्य की आशङ्का की
छाया है कितनी गहरी!
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।
मेरी करुणा का मृदु सावन,
पुलकित कर दे तन-तन मन-मन,
विस्तृत नभ की व्याकुल विद्युत
पल पल बन जाती है प्रहरी॥
निस्पन्द तरी, अति मन्द तरी।

६
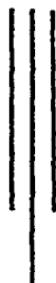
करुणा का गहरा गुञ्जार।
जिसमें गर्वित विश्व पिघलकर
बनता है आँसू की धार॥
विश्व-साँस का नव निर्भर प्रिय,
मधु-प्रिय कोकिल का मधु-स्वर प्रिय,
मेरे जीवन के मधुवन में
यह है मधुकरण का शृङ्गार॥
सावन-शिशु घन-अङ्कित अम्बर,
रिमझिम रिमझिम है पुलकित स्वर,
कितने प्राणों के स्वाती में
यह मोती-सा उज्ज्वल प्यार॥
करुणा का गहरा गुञ्जार।

१०
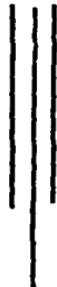
सभी दिशाएँ उर से छूकर

फैला यह उदार अम्बर है

और बादलो के काले

कारागृह में बन्दी सागर है ॥

कैसा वह प्रदेश है जिसमे—

एक उषा, वह भी नश्वर है !

उज्ज्वल एक तडित् है जिसका—

जीवन भी केवल क्षण भर है ! !

इस जीवन की व्यथित कल्पना

आज समय-गति-सी चञ्चल है !

नभ से सीमित आज न जाने

क्यों मेरा यह स्वर निर्बल है ! !

यह कैसा आया बादल !

लघु उर में गूँजा करती है

एक वेदना बहुत विकल ॥

नभ के इस विशाल जीवन में

आँसू का छोटा-सा छल ।

चञ्चल होने पर भी उसकी

भाग्य-रेख इतनी उज्ज्वल ! !

मेरा भी इतना लघु उर है—

किन्तु वेदना है अविचल ।

क्या उसमें अन्तर्हित है

करुणा की बूँदों का कुछ जल ?

१२

मेरा जीवन भरा हुआ है

विहगो के मृदु रागो में ।

हृदय गूँजता है झींगुर के—

अविदित बँधे विहागो में ॥

देह सिली है मुझमे, इन

ढीली साँसों के धागों में ।

मेरी इच्छा लेकर यह नभ

भागा चार विभागों में ॥

ये पल्लव हिल उठे, कौन-सा

सुख दे गया वसन्त-समीर ।

क्षितिज, तोड़ दो आज

प्रेम से मेरी पृथ्वी का प्रचार ॥

१३
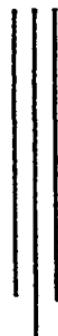
जीवन की एक कहानी है।

प्रकृति आज माता बनकर

कहती यह कठिन कहानी है॥

एक मनोहर इन्द्रधनुष फैला है नील गगन में,

क्या यौवन की लहर बही है वर्षा के जीवन में?

बादल हैं किस रमणी के सङ्कुचित बाहु-बन्धन में?

एक स्वप्न की रेखा है किरणों के नव जीवन में?

नश्वरता भू पर भिक्षुक है,

पर नभ में वह रानी है॥ जीवन०

अविरत साँसों के पथ पर, प्रिय निद्रा के नर्तन में,

निशा विभाजित हो जाती है तारों के कन कन में,

किन्तु उषा के उल्का से इस नीरव स्वर्ग-सदन में,

दिन की आग आह, लग जाती यह छल परिवर्तन में!

इस रहस्य को समझ, सुमन सूखा!

वह मुझसे ज्ञानी है॥ जीवन०

१४

कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो।
ओस नहीं है, मेरे आँसू
से ही मृदु पद धो लो॥
कोकिल-स्वर लेकर आया है
यह अशरीर समीर,
सुखमय सौरभ आज हुआ है
पञ्चबाण का तीर,
मन में कितना है रहस्य
ओ लघु सुकुमार शरीर!
व्योम तुम्हारे रुचिर
रङ्ग में डूबा है गम्भीर,
सुरभि-शब्द की एक लहर में,
तुम क्या हो, कुछ बोलो।
कलियो, यह अवगुण्ठन खोलो॥

रूपराशि

१६३१

१

यह रात—सतम–निस्तब्ध–शान्त,
केवल जग में है सजग श्वास!
हैं शिथिल भ्रमित-से दो पतंग;
मेरे दीपक के आस-पास!!

नभ-पथ यात्री तारे स-मौन,
हलकी नीली लघु किरण डाल!
जागृति का देकर कुछ प्रकाश,
उज्ज्वल करते हैं अन्तराल!!

कलिका के निद्रित अधर मञ्जु,
कोमल शीतल निस्पन्द वन्द!
दें ऐसे भावों के समूह,
उर में जागें दो-चार छन्द!!

तिर

२

यह अभिनव श्री विकसित हो।

तरु उमङ्ग से निर्मित कलिका,

स्वप्न-रूप से मुकुलित हो

यह अभिनव श्री विकसित हो।

चन्द्र-किरन का उज्ज्वल पावस,

बरस-बरसकर सस्मित हो।

तारों का अस्फुट शिशुपन,

लुक-छिपकर छवि पर विस्मित हो।

यह अभिनव श्री विकसित हो।

मेरे यौवन के वैभव से,

यह अनन्त श्री पुलकित हो।

मेरे जीवन से सदैव ही

इसका जीवन परिचित हो।

यह अभिनव श्री विकसित हो।

३

शान्त है, नीरव है यह रात !

सुकुमारी ! चुप !! पवन न पावे

प्रति-ध्वनि का आघात !

शान्त है, नीरव है यह रात !!

श्वास-तार पर भूल रहा है,

सुप्त शयित संसार।

तारे हावों ही में इङ्गित—

करते कम्पित प्यार।

क्यों चिन्तित हो ! जग-दृग पर है,

मधुर नींद का भार।

मैं हूँ, तुम हो, जाग रहे हैं—

दो विस्तृत संसार।

अपनी वाणी में रख लो,

मेरे उर का सम्वाद।

आओ, सो जाओ, भूलो

इस जाग्रतपन की याद !!

४

समय शान्त है मौन तपस्वी-सा तप में लवलीन,
रात्रि मुझे तो दिन ही है, केवल दिनकर से हीन,
नभ के पद पर धरा पड़ी है, यह है चिर अभिशाप,
तारे अपना हृदय खोल दिखलाते हैं सन्ताप।
प्रेयसि, जग है एक—
भटकता शून्य स-तम अज्ञात,
एक ज्योति-सी उठो—
गिरो पथ-पथ पर बनकर प्रात।
मैं तुमसे मिल सकूँ यथा उर से सुकुमार दुकूल,
समय-लता में खिले मिलन के दिन का उत्सुक फूल,
मेरे बाहु-पाश से वेष्ठित हो यह मृदुल शरीर,
चारो ओर स्वर्ग के होगा पृथ्वी का प्राचीर।
नभ के उर में विमल नीलिमा,
शयित हुई सुकुमार,
उसी भाँति तुमसे निर्मित हो,
मेरा उर-विस्तार।

५

मैं तुमसे मिल गया प्रिये!
यह है जीवन का अन्त
इसी मिलन का गीत कोकिले!
गा जीवन-पर्यन्त।

सुमन मधुप को बुला-बुला कर,
देंगे यह सम्वाद
कलियाँ कल जागेंगी लेकर,
इसी मिलन की याद।

प्राची के बिखरे सब बादल,
बदल - बदलकर रूप
किरण—साँस में बतला देंगे,
मेरा मिलन अनूप।

इस संसार—विविर में है,
अति लघु प्राणों का वास
सुख - दुख के दो कोण,
उन्हीं में रुदन और है हास।

इसके परिमित पल में है—
इस जीवन का उपहास,

एक दृष्टि में जन्म, दूसरी—
में है अमर प्रवास।

यह संसार शिशिर है—
तुम हो विश्वाकार वसन्त

मैं तुमसे मिल गया प्रिये!
यह है यात्रा का अन्त।

६

पल्लव के नव अञ्चल मे—
मुख न छिपा मेरी सुकुमारि !
विकल विश्व कोलाहल में।
उषा तोड़ तारो के फूल,
खेल रही है बादल में;
तू भी बन माला की रेख
सो मेरे वक्षस्थल में।
स्वप्न देखकर यह आकाश—
फैला है निर्झर-जल में;
मेरे मानस में तू देवि !
उसी भाँति बिखरे पल में।
मैं तू खिलकर समुद सहास
अब इस जड़ जग-जगल में;
भूलें नियति, वियति का चक्र,
लय हों निज अन्तस्तल में।

७

वृन्दावन का वह रास-रङ्ग ।

तुम रति-सी आई थीं सभीत, मैं ? मैं था उच्छृङ्खल अनङ्ग ।

मेरे कितने थे रखे नाम, गोपाल, कृष्ण, बलवीर, श्याम,

सूनी गलियों में थीं सभीत, इसलिए चलाती मुझे सङ्ग ।

नीले नभ में तुम रोज-रोज, कितने ही तारे नये खोज,

मुझसे कहती थीं चलो आज, उनमें रहने की है उमङ्ग ।

सच ! झूठ ! ! (कहूँ मैं किस प्रकार), गिरती थीं भू पर हार-हार,

मेरे हाथो में तन समेट, घर जाने का था नया ढङ्ग ।

मेरी वनमाला तोड़-तोड़, अपनी माला से जोड़-जोड़ ।

मेरे उर-तट पर सदा छोड़—देती थीं साँसो की तरङ्ग ।

तुम रति-सी आई थीं सभीत, मैं ? मैं था उच्छृङ्खल अनंग ।

वृन्दावन का वह रास-रग ।

८

मेरे सुख की किग्न अमर !
जीवन-बूँदों से चल-चलकर;
विखरो इन्द्र-धनुष बन कर।
मेरे सुख की किरन, अमर।

मेरे नव-जीवन बादल में
रङ्ग सुनहला दोगी भर ?
बाला बन कर छू लोगी क्या
मेरा यह पीड़ित अन्तर ?

जब मेरे क्षण सोते होंगे
अन्धकार के अम्बर पर;
तब तुम प्रथम प्रकाश-ज्योति बन
उन्हें जगाना चूम अधर।

मेरी आँखों के आँसू के
बिन्दु बने नीरव निर्झर;
तब तुम उस धारा पर गिरना
प्रतिबिम्बित होकर मृदुतर।

मेरे जीवन-नभ के नीचे
जब हो अन्धकार-सागर;

तब तुम धीरे-धीरे से आ
फेनिल-सी सजना सुखकर।
मेरे जीवन में जब आवें
अन्धकार के श्याम प्रहर;
तब तुम खद्योतों में छिपकर
आ जाना चुपचाप उतर।
मेरे सुख की किरन अमर।

प्रिये, यह मेरा है अधिवास।

इसके पीछे ही मिलता है,

पृथ्वी से आकाश।

प्रिये, यह मेरा है अधिवास।

तारे नभ से किरणें ही

देकर हो जाते मौन,

अन्धकार फैला जाता है,

यहाँ न जाने कौन!

शिशिर - ग्रीष्म - पावस - शिशु

हँसकर, जल कर, रोकर आह!

वन्दी हैं! (क्यों अरे, तुम्हारे,

दृग में अश्रु-प्रवाह!!)

तुम तो तरुण करुणा हो,

आई हो मेरे द्वार!

क्या मेरा अधिवास बनेगा

एक अमर संसार!

१०

इस जग में जीवित हूँ मैं,
कण-कण के परिवर्त्तन से
तुमने मुझको बाँधा है,
इन साँसों के बन्धन से!
चर हूँ, पर नियति नचाती,
मुझको मेरे ही मन से,
नश्वरता से लड़ता हूँ,
यौवन के अवलम्बन से।
मैं भूला अपनापन-पथ,
जग के इस अविदित वन से,
प्रेयसि! आओ तारों के—
झिलमिल प्रकाश-कम्पन से।

२१

कहता है भारत तेरे गौरव की एक कहानी,
वैभव भी बलिहार हुआ था तेरे मुख का पानी।
नूरजहाँ! तेरा सिंहासन था कितना अभिमानी!
तेरी इच्छा ही बनती थी जहाँगीर की रानी!

फूलों के यौवन से सज्जित—
केश-राशि थी खोली,
तन से तो तू युवती थी पर—
मन से कितनी भोली!

एक स्वप्न था कभी आगरे ने विस्मित हो देखा,
मुगलों के भाग्यों में थी बस एक सुनहली रेखा।
उस रेखा से ही सज्जित तेरी मृदु आकृति आई,
जिस पर छवि-विभूति सोई थी यौवन में अलसाई!

सिंहासन के मणियों ने थी—
शोभा वही निहारी,
जिसके लिए सलीम—
शाहज़ादे से बना भिखारी।

कान्तिमती थी मानो शशि-किरणों पर तू सोती थी,
राजमहल की सरस सीप में तू जीवित मोती थी।

यह मोती का प्यार—चुप रहो ऐ सलीम, मत बोलो !
इस सौंदर्य-सुधा में मत विषमयी वासना घोलो !

वह मोती का प्यार—सजा है,
जिसमें छवि का पानी !
कैसे रक्षित होगा ? यह—
दुनिया तो है दीवानी ।

कोमल छवि का मोल ! वासना ही के उपहारों में—
और प्रेम का मोल रत्न के—हीरों के—हारों में—
करता है संसार, यही है उसकी रीति निराली,
अन्धकार से तारों का विक्रय करती निशि काली ।

यह न स्थान है जहाँ प्रेम का—
मूल्य लगाया जावे,
नूरजहाँ तेरे मन का सौदा—
सुलझाया जावे ।

जहाँगीर क्या समझ सका था तेरे मन की बातें,
तेरे साथ उसे भाती थीं बस चाँदी की रातें ।
सारी रात देखते थे तारे तेरे दृग-तारे,
प्रातः तेरे आँसू बनकर बिखर गये थे सारे ।

इस रहस्य ही में करुणा की
थी अव्यक्त कहानी,
कितने हृदय-प्रदेशों की थी
एक साथ तू रानी ।

*　　*　　*

(न आँखों मे देखी जाती—
थी　मदिरा　की　लाली,
स्वप्न बनी तू और साथ ही
स्वप्न　देखने　वाली) ।

देयों के सागर में डूबी तेरी गौरव-
रू, तेरे चरणों पर था किस-किस प्रेमी का म
गत देखता रहा फूल वह तोड़ ले गया
ध बढ़े ही रहे गिर पड़ी यौवन की वह प्या

नूर-रहित　हो　गया　जहाँ,
तेरे　जग　से　जाने　से,
नूरजहाँ, तू जाग—जाग　फिर
मेरे　इस　गाने　से।

|||

१२

[शाहजहाँ बीमार है। उसके चार पुत्र हैं—दारा, शुजा, मुराद और औरंगज़ेब। राज-सिंहासन के लिए उसके चारों पुत्रों में लड़ाई हो रही है। औरंगजेब ने दारा और मुराद को पराजित कर दिया है। वह शुजा का पीछा बंगाल में कर रहा है। शुजा बनारस, मुंगेर, मुर्शिदाबाद, ढाका से होता हुआ अराकान के राजा की शरण लेता है। वहाँ भी राजा से मनोमालिन्य होने के कारण शुजा अराकान के प्रशान्त वन में सदैव के लिए चला जाता है। मैं अराकान से पूछना चाहता हूँ—'शुजा कहाँ है ?']

मौन-राशि ओ अराकान !
अथ-हीन और इति-हीन मौन,
यह मन है, तन भी यही मौन,
निर्जनता की बहुमुखी धार,
अविदित गति से है वही मौन।
यह मौन ! विश्व का व्यथित पार,
तुझ में क्यों करता है निवास ?
क्या व्योम देख कर ? अरे व्योम—
में तारों का है मुक्त हास।
ये शिला-खंड—काले, कठोर—
वर्षा के मेघों-से कुरूप।

क्या हार ? आह, वह शुजा वीर !
संग्राम-भूमि में गया हार !
यह वही शुजा है जो सदैव—
वैभव का था जीवित विहार !
यह वही शुजा है एक बार—
जिससे सज्जित थे राज-द्वार !
अब हार—(विजय की पतित राशि)
लज्जित करता है बार-बार !

जीवन के दिन क्या हैं अनेक ?
वृद्धा के सिर के श्याम केश !
जर्जरपन ही है मुक्त-द्वार,
जिसके सम्मुख है मृत्यु देश !
यह वैभव का उज्ज्वल शरीर,
दो दिन करता है अट्टहास,
फिर देख स्वयं निज विकृत वेश,
लज्जित हो करता है प्रवास !

वह शुजा ! आह, फिर वही नाम—
मचले बालक-सा बार बार,
सोई स्मृति पर लघु हाथ मार,
क्यों जगा रहा है इस प्रकार ?
वह शाहजहाँ का राज्यकाल !
मानों हिमकर का रजत हास !

लक्ष्मी का था इस्लाम-रूप !
स्वर्गों का था भू पर निवास !

वे दिन क्या थे । यौवन-विलास—
सन्ध्या-बादल-सा था नवीन !
यह रास-रङ्ग—वह रास-रङ्ग—
यौवन था यौवन मे विलीन !

धन भूल गया था व्यक्ति-भेद,
उसकी गति का था हुआ नाश,
था स्वर्ण-रजत का एक मूल्य,
रत्नों में पीडित था प्रकाश ।

रमणी के कण्ठों पर स-रत्न,
सोया करता था बाहु-पाश,
उच्छृङ्खलता भी थी प्रमत्त,
चिन्ता जीवन से थी हताश ।
'शासित के जी हलके सदैव—
थे, शासक पर था राज्य-भार !
उसकी जाग्रति से सभी काल,
निद्रित रहता था दुराचार ।

उस दिन वह केवल था विनोद,
जब नीली यमुना के समीप,
सञ्चित था उत्सुक जन-समूह,
(बुझते जाते थे नभ-प्रदीप) ।

काले बादल-से दो प्रमत्त,
हाथी लड़ते थे बार-बार,
विद्युत-सा उद्धत चपल शस्त्र,
सूचित कर देता था प्रहार।

अपनी आँखों में भरे हर्ष—
उत्सुकता की चञ्चल हिलोर,
नृप शाहजहाँ रवि रश्मि-युक्त—
हो, देख रहा था उसी ओर।

सम्मुख थे उसके राजपुत्र,
चञ्चल घोडो पर थे सवार,
आश्चर्य उमङ्गों का सदैव—
दृग में बढ़ता था तीव्र ज्वार।

औरंगजेब की ओर एक—
गज दौड़ा बन साकार क्रोध,
पर थी उसकी तलवार तीव्र,
करने वाली चञ्चल विरोध।

जीवन का अब अस्थिर प्रवाह,
दो क्षण तक ही था रहा शेष,
पर वाह, शुजा रे शुजा वीर!
तेरी चञ्चलता थी विशेष!

तूने विद्युत बन कर सवेग,
विद्युत-तर कर भाला विशाल,

उस मृत्यु-रूप गज के स-रौद्र,
मस्तक पर छोड़ा था कराल।
गज घूमा, तू औरंगजेब—
को बचा, हो गया अमर वीर।
मैं तुझे खोजता हूँ अलक्ष्य,
अब अराकान में हो अधीर।

था शाहजहाँ बीमार, और—
दारा बैठा था नमित माथ,
जिन पर आश्रित था राज्य भार,
वे काँप रहे थे आज हाथ।
दरबार हो गया नियम-हीन,
प्रातः-दर्शन भी था न आह,
रवि-शाहजहाँ से हुआ शून्य,
प्रति दिन प्राची-सा ख्वाबगाह।
गत तीस वर्ष का राज्यकाल,
विस्तृत था स्वप्नों के समान,
जिनमें निद्रित था बन प्रशान्त,
इस जीवन का अस्तित्व शान।
'शाही-बुलन्द इक़बाल' युक्त,
दारा का शासन था स-हास,
पर शाहजहाँ का मृत्यु-कष्ट,
करता मुख से मुख पर प्रवास।

चिन्ता-निर्मित नत व्यथित शीश,
झुकते थे दिन में अयुत बार,
मृदु वायु सह रही थी अनन्त,
आशीषों का अविराम भार।
जिस तन पर मणियों का प्रकाश,
अपना जीवन करता व्यतीत,
अब वह तन है कितना मलीन!
कितना निष्ठुर है यह अतीत!

जब शाहजहाँ ने एक बार,
सोचा जीवन का निकट अन्त;
दृग से दो आँसू गिरे, और—
उनमें आकांक्षा थी अनन्त।
ये जीवन के दो दिवस शेष,
जिनमें होंगी स्मृतियाँ अतीत,
प्रिय ताजमहल के पास क्यों न,
हों प्रेयसि-चिन्तन में व्यतीत!

कुछ दूर—आगरे में अनूप,
सञ्चित है स्मृति का अश्रु-बिंदु,
वह ताज—(वेदना की विभूति),
अङ्कित है भू पर पूर्ण इन्दु।
यह शाहजहाँ है एक व्यक्ति,
जिसने इतना तो किया काम,

दे दिया विरह को एक रूप,
है 'ताज' उसी का व्यथित नाम।

पर—है प्रेयसि की स्मृति पवित्र,
कितनी कोमल ! कितनी अनूप !
फिर शाहजहाँ ने बन कठोर,
क्यों दिया उसे पाषाण-रूप !

यदि फूलों से निर्मित अम्लान,
यह ताजमहल होता सहास,
तब होता स्मृति का उचित चिन्ह,
मैं क्यों रहता इतना उदास !

तारो की चितवन के समान,
था शाहजहाँ अपलक अधीर,
यमुना की लहरों से स-मोद,
क्रीड़ा करता था मृदु समीर।
कितने भावों को कर विलीन,
छोटे-से दृग के बीच आज,
दिल्ली का स्वामी बन मलीन,
था देख रहा निस्तब्ध ताज।

वह ताज ! देखकर उसे हाय,
उठता था दृग में विकल नीर,
मुमताज ! कहाँ पाषाण-भार,
है कहाँ तुम्हारा मृदु शरीर।

है कहाँ तुम्हारी मदिर-दृष्टि,
जिसमें निमग्न था अधर-पान ?
अधरों में सचित था अनूप,
इक्षुज-सा कोमल मधुर गान !

था मधुर गान ! . . अः, वह मुराद,
औरंगजेब के सहित आज,
है शुजा—शुजा भी है स-ओज,
सजने को भीषण युद्ध-साज ।
दिल्ली का सिंहासन विशाल,
है आज युद्ध का पुरस्कार,
जीवन होगा जय का स्वरूप,
क्या मृत्यु-रूप होगी न हार ?

नृप शाहजहाँ की हीन शक्ति,
बन गई सुतों का बल अपार,
दारा, मुराद, औरंगजेब,
थे मानो जीवित अहङ्कार ।
सतलज की लहरें हुईं क्षुब्ध,
जब उठा भयङ्कर युद्ध-नाद,
प्रतिबिम्बित था जल में अनन्त—
सेना-समूह—भीषण विषाद ।
दारा का वैभव-पूर्ण युद्ध,
वृद्धा-जीवन-सा था अशक्त,

(धन का सेवक था युद्ध-वाद्य,
वह गया स्वर्ण के साथ रक्त !)
वह दिल्ली से लाहौर, और—
मुलतान सिन्ध से गया कच्छ,
कलुषित-सा होने लगा नित्य,
उसकी जय का आकार स्वच्छ !

दादर में दारा की विभूति—
का द्रुत आँसू में था प्रवाह,
नादिरा हृदयसङ्गिनी आज,
थी मृत्युसङ्गिनी आह ! आह !
दारा के उर पर अश्रु और
मोती बिखरे थे बन अधीर,
सिसकियों-भरे चुम्बन-समेत,
था मृतक नादिरा का शरीर !!

बन्दी था अब वह राजपुत्र,
भिक्षुक-स्वरूप हो गया ईश !
क्षण-एक हुआ चीत्कार रुद्ध,
फिर गिरा रक्त से सना शीश !
वह शीश देख औरंगजेब—
हँसकर रोया था बहुत देर,
मानो निर्दयता ने स-भूल,
थोड़ी-सी करुणा दी बिखेर !

भोला मुराद-(मदिरा-प्रवीण)—
सोया था होकर शस्त्र-हीन,
चरणों को अलसाई अनृत,
थी दबा रही बाँदी नवीन,
उस समय दुष्ट औरंगजेब—
ने भेजा था क्यों शेख मीर ?
जिससे सहायता हीन सुत—
भाई का बन्दी हो शरीर।

अः शुजा ! और तुम ! कहो वीर !
बंगाल तुम्हारा था प्रवास,
सुख का दिन—सुख की रात शान्त,
यह सत्रह वर्षों का निवास !
उस राजमहल की शान्त वायु—
पा शाहजहाँ का समाचार,
निर्बल रोगी-सी हुई क्षुब्ध,
आकांक्षा का हिल उठा तार।

तू बढ़ा हाथ में ले सगर्व,
शासन का गौरव-पूर्ण भार,
तेरा गौरव था एक चित्र—
तेरा साहस था चित्रकार !
थी शत्रु-वाहिनी अति प्रमत्त,
तू विमुख हुआ था बार-बार,

मानो दृढ तट पर शक्ति-हीन
लहरों का था असफल प्रहार।

औरंगजेब से हुआ युद्ध,
जिसमें थी गज-सेना अपार,
विजयी बनकर भी कई बार,
तुझको क्यों स्वीकृत हुई हार!
ढाका से भागा अराकान,
खोकर अपना विजयी स्वभाव,
कितनी नदियाँ कीं शीघ्र पार,
आशाओं ही की बना नाव।

गौरव-रक्षण के हेतु वीर!
तूने अपनाया वन-प्रदेश!
रक्षित है क्या अब भी महान्!
तेरा वह विक्रम वीर वेश?
तेरे वैभव का मृदु विलास,
इस अराकान से था अपार,
इसके पर्वत से भी महान्,
तेरे दुख का था मधुर भार।

इसमें विभीषिका भी सदैव,
रहती है हो-होकर सभीत,
तेरे समीप मुस्कान मञ्जु,
अधरों में होती थी व्यतीत।

तरु तोड़-तोड़कर यहाँ नित्य,
झंझा करता है अट्टहास !
तेरे शरीर में नव सुगन्धि,
लिपटी-सी करती थी निवास ।

ले अपने वैभव का शरीर,
आया है तू इस भाँति श्रान्त,
एकान्त भूमि में इस प्रकार,
तू ही है उजड़ा एक प्रान्त !
ओ अराकान के शून्य प्रान्त !
तेरे विशाल तन में प्रशान्त,
वह शुजा हृदय की भाँति आज,
क्या धड़क रहा है वन अशान्त !

अभिशाप

१६३०

१

नश्वर स्वर से कैसे गाऊँ,
आज अनश्वर गीत ?
जीवन की इस प्रथम हार में,
कैसे देखूँ जीत !
उषा अभी सुकुमार, क्षणों में—
होगी वही सतेज,
लता बनेगी ओस-बिन्दु को
सरल मृत्यु की सेज,

कह सकता है कौन, देखता हूँ मैं भी चुपचाप।
किसका गायन बने न जाने मेरे प्रति अभिशाप!

क्या है अन्तिम लक्ष्य—
निराशा के पथ का ?—अज्ञात!
दिन को क्यों लपेट देती है
श्याम वस्त्र में रात ?
और, काँच के टुकडे बिखरा—
कर क्यों पथ के बीच,
भूले हुए पथिक-शशि को दृग—
देता है नभ नीच ?

यही निराशामय उलझन है क्या माया का जाल ?
यहाँ लता में लिपटा रहता छिपकर भीषण व्याल।

देख रहा हूँ बहुत दूर पर,
शान्ति-रश्मि की रेख,
उस प्रकाश से मैं अशान्ति-तम—
ही सकता हूँ देख,
काँप रही स्वर-अनिल-लहर
रह-रहकर अधिक सरोष,
डरकर निरपराध मन अपने—
ही को देता दोष !

कैसा है अन्याय ? न्याय का स्वप्न देखना पाप !
मेरा ही आनन्द बन रहा, मेरा ही सन्ताप !

हास्य कहाँ है ? उसमें भी है,
रोदन का परिणाम,
प्रेम कहाँ है ? घृणा उसी में
करती है विश्राम,
दया कहाँ है ? दूषित उसको—
करता रहता रोष,
पुण्य कहाँ है ? उसमें भी तो—
छिपा हुआ है दोष,

धूल हाय ! बनने ही को, खिलता है फूल अनूप।
वह विकास है मुरझा जाने ही का पहला रूप।

मेरे दुख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ,
उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक-हाथ,
मेरे निकट शिलाएँ, पाकर
मेरे श्वास-प्रवाह,
बड़ी देर तक गुञ्जित करती—
रहतीं मेरी आह,

'मर-मर' शब्दों में हँसकर, पत्ते हो जाते मौन।
भूल रहा हूँ स्वयं, इस समय मैं हूँ जग में कौन?

वह सरिता है—चली जा रही—
है चंचल अविराम,
थकी हुई लहरों को देते
दोनों तट विश्राम,
मैं भी तो चलता रहता हूँ
निशिदिन आठो याम,
नहीं सुना मेरे भावों ने
'शान्ति-शान्ति' का नाम,

लहरों को अपने अङ्गों में तट कर लेता लीन।
लीन करेगा कौन? अरे यह मेरा हृदय मलीन!

२

क्या शरीर है ? शुष्क धूल का—
थोड़ा-सा छवि जाल,
उस छवि में ही छिपा हुआ है
वह भीषण कङ्काल,
उस पर इतना गर्व ? अरे,
इतने गौरव का गान,
थोड़ी-सी मदिरा है उस पर,
सीखा है बलिदान ?

मदमाती आँखोंवाले, ओ ? ठहर, अरे नादान !
एक-फूल की माला है उस पर इतना अभिमान ?

इस यौवन के इन्द्र-धनुष में
भरा वासना-रङ्ग,
काले बादल की छाया में,
सजता है यह ढंग,
और उमंगों में भूला है
बनकर एक उमंग;
एक टूटता-स्वप्न आँख में
कहता उसे 'अनंग'—

वह 'अनङ्ग' जो धूल-कणों में भरता है उन्माद ।
जर्जरपन में भी ले आता नवयौवन की याद ।

और (याद आया अब)—
मृगनयनी का नयन-विलास,
हँसती और लजाती थी—
चितवन कानों के पास,
गोल गुलाबी गालों में—
भरकर ऊषा का रङ्ग,
पैना तीर चला चितवन का,
करती थी भ्रू-भङ्ग,

मैंने देखा था उसमें, गिरते फूलों का हास ।
सन्ध्या के काले अम्बर में मिटता अरुण-विकास ।

दूर ! दूर ! !—मत भरो कान में,
वह मनवाला राग,
यही चाहते हो मैं कर लूँ
इस जग से अनुराग ?
गिरते हुए फूल से कर लूँ
क्या अपना शृंगार ?
करने को कहते हो मुझसे,
निश्चल शव से प्यार !

गिन डालूँ कितनी आहों में अपने मन के भाव !
पथराई आँखों से कैसे देखूँ चिर का साव !

सन्यासी

अरे, पुण्य की भाषा ही में
क्यों कहते हो पाप !
क्षणिक सुखों की नीवों पर
क्यों उठा रहे सन्ताप ?
सुमन-रङ्ग से किस आशा पर
करते अमर विहार ?
ओस-कणों में देख रहे—
सारे नभ का शृंगार ?

प्यार-प्यार क्यों प्यार कर रहे नश्वरता से प्यार ?
यहाँ जीत में छिपी हुई है इस जीवन की हार !

मृत्यु वही है, जिसमें होती,
जीवित क्षण की हार,
वे ही क्षण क्यों भाग रहे हैं
वर्तमान के पार !
मेरे आगे ही, मेरे
जीवन का नाश-विलास,
झाँक शुष्कता रही चोर-सी,
हृदय सुमन के पास,

जीवन-आभा बनती जाती दिन दिन अधिक मलीन।
अंधकार में भी बनता हूँ मैं लोचन से हीन।

भूल रहा हूँ पाकर स्मृति की,
चञ्चल एक हिलोर,

देख रहा हूँ मै जीवन के
किसी दूसरी ओर,
हाँ, वह यौवन-लाली करती
जीवन-सुमन विहार,
मादकता में धूल-कणों से—
भी करती थी प्यार,

शुष्क पत्तियों से भी करती आलिङ्गन का हाव।
मतवाले बन-बनकर आते, मन के नीरस भाव।

काले भावों की रजनी मे
आशा का अभिसार,
मैंने छिपकर देखा था,
देखा था कितनी बार,
उनका आना और समुत्सुक—
मेरे मन का प्यार,
दोनों भाव बना देते थे
लज्जित लोचन चार,

किन्तु, मुझे क्या मिलता था? क्या बतला दूँ उपहार!
शीतल ओठो का मुरझाया-सा चुम्बन उस बार।

उत्सुकता के बदले में यह
भीषण अत्याचार!
घृणा, घृणा शत-जिह्वा से
हसती थी बारम्बार,

आँखों की मदिरा का बन जाना
आँसू की धार,
बाहु-पाश का शक्ति-हीन हो
गिरना धनुषाकार,

यह था क्या उपहार, अरे इस जीवन का उपहार!
फूल-रूप क्यों रखता है यह धूल-रूप संसार?

छविमय कहते हो जिसको
जिसमें है रूप अपार,
हाय! भरा है उसमें कितने,
पापों का संसार!
पहन रहे हो हार,
उसी में भूल रही है हार,
पुण्य मानकर क्यों करते हो,
इन पापों से प्यार?

मुझे न छूना, जतलाओ मत अपना झूठा प्यार।
धूल समझकर छोड़ चुका हूँ यह कलुषित संसार।

अञ्जलि

१६२६

१

फूलों की अधखुली आँख !
मार्ग देख मेरे प्रियतम का,
देख देख नीला आकाश ।
जब तक वे न यहाँ आवे,
खुलने का मत कर व्यर्थ प्रयास ॥

सागर की गतिवती तरङ्ग !
ले उर्द्धस मत, तट पर जाकर,
चुप हो जा ओ चञ्चल बाल !
मेरे प्रियतम के आने की,
ध्वनि से देना अपनी ताल ॥

ओसों के बिखरे वैभव !
फैले हो अवनी पर, शासन—
करने का यह अनुपम ढङ्ग ।
तुम से भी तो कोमल है,
मेरे प्रियतम का उज्ज्वल अङ्ग ॥
मत उड़ना ए, अश्र-बिन्दु बन
भरना उन फूलों में बास ।

मेरा अनुपम धन आवे,

जब तक इस निर्धन मन के पास ॥

तरुवर के ओ पीले पात !

मत गिरना, मेरे प्रियतम को,

तो आ जाने दो इस बार।

आने पर उनके चरणों पर,

गिरकर हो जाना बलिहार ॥

ओ समीर के मन्दोच्छ्वास !

फूलों की प्याली में तब तक,

मत भरना छवि-सुधा अपार।

जब तक प्रियतम की पद-ध्वनियाँ,

पहुँच न जावें मेरे द्वार ॥

जल-कुबेर ए काले मेघ !

प्रिय की विरह-ज्वाल दिखलाकर,

क्यों बरसाते हो जल-धार ?

वसुधा के वैभव ही में तो,

करते हो अपना विस्तार ॥

तब तक मौन रहो जब तक,

मेरे आँसू का पारावार।

मिल जावे तुम से करने को,

प्रियतम के पद का शृङ्गार ॥

ओ मेरी तन्त्री के नाद !

मत गूँजो, मेरी उँगली से
मत बोलो ओ प्राणाधार।
मेरे मन में बस जाने दो,
पहले मेरा प्रिय स्वरकार॥

२
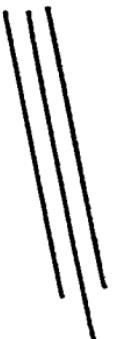
इस सोते ससार बीच,
जगकर सजकर रजनी बाले!
कहाँ वेचने ले जाती हो,
ये गजरे तारों वाले?
मोल करेगा कौन,
सो रही हैं उत्सुक आँखें सारी।
मत कुम्हलाने दो,
सूनेपन में अपनी निधियाँ न्यारी॥
निर्झर के निर्मल जल में,
ये गजरे हिला-हिला धोना।
लहर हहरकर यदि चूमे तो,
किञ्चित विचलित मत होना॥
होने दो प्रतिविम्ब विचुम्बित,
लहरों ही में लहराना।
लो मेरे तारों के गजरे,
निर्झर-स्वर में यह गाना॥
यदि प्रभात तक कोई आकर,
तुम से हाय, न मोल करे।
तो फूलों पर ओस-रूप मे,
बिखरा देना सब गजरे॥

३

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !

इस एकान्त प्रान्त-प्राङ्गण में

किसे सुनाते सुमधुर स्वर ?

अरे निर्जन वन के निर्मल निर्झर !

अपना ऊँचा स्थान त्यागकर,

क्यो करते हो अध.पतन ?

कौन तुम्हारा वह प्रेमी है,

जिसे खोजते हो वन-वन ?

विरह-व्यथा में अश्रु बहाकर,

जल मय कर डाला सब तन ।

क्या धोने को चले स्वय,

अविदित प्रेमी के पद-रज-कन ?

लघु पाषाणों के टुकडे भी,

तुमको देते हैं ठोकर ।

क्षण भर ही विचलित होकर,

कम्पित होते हो गति खोकर ।

लघु लहरो के कम्पित कर से,

करते उत्सुक आलिगन ।

सत्यानन्द

कौन तुम्हे पथ बतलाता है,

मौन खड़े हैं मत्र तरुगन ?

अविचल चल, जल का छल छल,

गिरि पर गिर-गिरकर कल-कल स्वर।

पल-पल में प्रेमी के मन मे,

गूँजे ए कातर निर्झर !

ओ समीर, प्रातः समीर !

मेरे पल्लव सोते हैं,
टूटे न शान्त स्वप्नों का तार ।
या तो धीरे-से आओ,
या रहो दूर, देखो उस पार ॥
सरल सुमन-शिशुओं ने तेरी,
आहट से दीं आँखें खोल ।
यह सौन्दर्य-सुधा छलकाकर,
घटा दिया क्यों उसका मोल ?
ओ समीर, निष्ठुर समीर !

कलियों को मत छूओ,
बालिकाएँ हैं, सरला हैं, अनजान ।
गाना मत उनके समीर,
उन्मत्त अरे, यौवन के गान ॥
अमन्द तुम्हारा है प्रवाह,
ध्वनि-पट से करते व्योम-विहार !
या तो धीरे से आओ,
या रहो दूर देखो उस पार ॥

निशानं

किसका शिशुपन चुरा-चुराकर,
भरते हो ओसों में आज ?
किसकी लाली छीन कर रहे,
उषा-प्रेयसी का यह साज ?
अरे, एक झोंके मे ही क्यों,
उड़ा दिए सब तारक-फूल ।
मेरे स्वप्नों में क्यों भर दी,
मेरे जागृतपन की धूल ?
ओ समीर, पागल समीर !

५
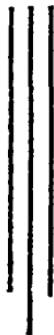
तरुवर के ओ पीले पात !

किस आशा से तन्तु सम्हाले रहते हैं दिन रात !

रात हो या कि प्रभात।

पतले एक हाथ से पकड़े हो तरुवर का गात।

अन्य तुम्हारे स्वजन,

हरे रङ्गों का ले परिधान।

हँसते हैं पीलेपन पर क्या,

मर मर मर कर गान !

सुनते हो चुपचाप,

अन्य पत्तों का यह अभिशाप।

उनका है आनन्द तुम्हारा

यह विषमय संताप ॥

गिर जाना भू पर,

समीर में हिल-डुल कर इस बार।

दिखला देना पत्तों को,

उनका अन्तिम संसार ॥

६

समय की शीतल साँस !
शिशिर ! तुम्हारे जीवन का
पहिला दिन, पहिली रात ।
उसी समय तुमने छीने
जीवन-तरुवर के पात,
हँसते हो, छूते हो जग के
सब सूखे कङ्काल;
शिशुपन की क्रीडा मे
जीवन का यह रूप कराल !
वृद्ध सो रहा है,
तेरा ही स्वप्न रहा है देख,
तीन पंक्तियों मे मस्तक पर
है जीवन का लेख,
वह आशा जो जर्जरपन मे
ले माया का रूप,
कङ्कालो से हँसती रहती
तेरे ही अनुरूप,
तेरा जीवन है जग के
फूलों का जीवन-नाश,

तेरी क्रीडा के कारण ही
शून्य हुआ आकाश,
मेरा जीवन तो तुझ से भी
शीतल है ओ क्रूर!
क्यो रहता है फिर उससे तू
डर कर इतनी दूर?
जीवन-सुख है, वर्षा की
सरिता का वारि-विलास,
उठ कर पत्थर ने ठोकर
खाकर करना उपहास,
उस सुख से तेरे दुख में
मिलती है अधिक मिठास,
तुझ मे ही मेरा वसन्त है
तुझ मे अमर विलास,
समय की शीतल साँस।

७

मेरी गति है वहाँ जहाँ पर करुणा का है नाम नहीं।
मैं रहता हूँ वहाँ जहाँ रहने का कोई धाम नहीं।
मेरे कार्यों का होता है कोई भी परिणाम नहीं।
मेरे ब्रज में गोप नहीं, गोपियाँ नहीं, घनश्याम नहीं।

मैं जाता हूँ कहाँ, इसी का मुझको बिलकुल ज्ञान नहीं।
मुझे छोड़ कर अन्य किसी से मेरी है पहिचान नहीं॥

सूक्ष्म और अन्तर्यामिन् का मुझ में होता है अवतार।
मूर्ति कहाँ है, विभव व्यूह का सजा रहा हूँ मैं संसार।
जाग रहा है चित्, सोता है अचित् प्रकृति बन बारम्बार।
आता कौन, कौन जाता है सृष्टि-महासागर के पार।

बद्ध मुक्त से सजा रहा हूँ चित् का मैं अस्तित्व अनन्द।
सत रज तमकी वृत्ति चली जाती है महा-प्रलय पर्यन्त॥

परिवर्तन की चाल! एक कण घूम घूम कर सौ सौ बार।
बना रहा है प्रलय, विश्व के बना रहा अगणित ससार।
रात्रि और दिन के पर्दों पर खेल रहा जीवन बन व्यस्त।
अन्धकार के काल-सर्प जब ढक लेते हैं विश्व समस्त—

और सर्प-दंशित सम जग जन हो जाता है तमसाकार।
मैं जाता हूँ पुरुष-रूप से करने महा प्रकृति से प्यार ॥

× × ×

कैसा है वह प्यार! वासना का उसमें विस्तार नहीं।
क्रीड़ास्थल है महा विश्व, यह छोटा-सा संसार नहीं ॥

८

मेरी जीवन-तन्त्री मे कितनी आहो के तार लगे !
मेरे रोम रोम मे कितने ही दुख के संसार लगे !
मेरी अन्तर् बहिर् प्रकृति मे प्रबल हार के हार लागे !
मेरे जीवन-नभ को दुख-दामिनि के चपल प्रहार लगे !

ज्ञान-कोष मे आँसू के कितने ही हैं भाडार लगे !
मेरे मानस में छल करनेवाले कितने प्यार लगे !

मेरे हँसने से ही शशि-किरणों का उज्ज्वल हास हुआ।
मेरे आँसू की सख्या से तारो का उपहास हुआ।
मेरे दुख के अन्धकार से रजनी का शृङ्गार हुआ।
मेरे बिखरे भावों से बिखरा-सा यह ससार हुआ।

मेरे सुख से ही जग में सुख का है कुछ आभास हुआ।
मेरे जीवन से ही मानव-जीवन का इतिहास हुआ॥

लिए कितनी स्मृतियों का कोष
भिखारी-सा जर्जर तन भार,
खड़े हो ओ मेरे गृह आज।
किसे करने को भूला प्यार ?
सुलाए कितने वर्ष अतीत
गोद में खड़े हुए दिन रात,
झुलाए वातायन में नित्य
झाँकने वाले बाल-प्रभात।
रात की काली चादर ओढ़
निकलते थे तारे चुपचाप,
देखते थे वे चारों ओर
भयानक अन्धकार का पाप।
देखते थे तुम भी उस काल
हृदय में कर सुस्नेह प्रकाश,
दीप्तिमय छिद्र नेत्र से अचल
उन्हीं नक्षत्रों का आकाश।
तुम्हारे लघु छिद्रों के नेन
जानता था कब मैं उस काल,

प्रकाशित होंगे कभी न हाय !
उठेंगे जब ये तारे-जाल।

एक छाया ही का आतङ्क
बढेगा तुम पर ऐसा आह !
निकल जावेगा तुम पर मूक
रात्रि दिन का अविराम प्रवाह ।

आह, वे स्मृतियाँ कितना उग्र,
कहाँ हैं, कहाँ,कहाँ, किस ओर !
यहाँ कैसा था रजनी काल
और कैसा तम था, उफ, घोर !

और मेरी माँ का ससार
हिल रहा था जब पल प्रति पल,
नेत्र कीउज्ज्वलता मेंसिमिट—
गया था अन्धकार अविचल ।

आँख की पुतली पल में कभी
भूल जाती थी अपनी चाल,
देखते थे उसको चुपचाप
प्यार के पाले भोले बाल ।

शुष्क ओठों का अविदित बोल
चुरा ले गई पापिनी वायु,
ओस की बूँदों-सी उड चली
फूल से तन मे बैठी आयु ।

आँख धीरे धीरे थी खुली
दृष्टि निर्बल पहुँची सब ओर,
और पुतली ने धीरे छुआ
बुझी आँखों का सूखा छोर।

उसी क्षण उज्ज्वल दीप-प्रकाश
हो गया पल पल अधिक मलीन,
अन्त में सन्ध्या-सा बन कहीं
हो गया अन्धकार में लीन।

आज भी वह स्मृति ले चुपचाप
रखे हो अपना अवनत भार,
यही तो है जीवन की हार
यही तो दो दिन का संसार।

यही तो दो दिन का संसार
खिलाता है कितने ही फूल,
और दो दिन के भूखे भ्रमर
भूलते हैं अपनापन भूल।

तुम्हारा सुन्दर उपवन और
तुम्हारा सुन्दर रूप विशाल,
आज है देख रहा संसार
तुम्हें रोगी का नत कङ्काल।

वायु आकर छू जाता शीघ्र
देखते हो तुम उसका व्यङ्ग,

कभी सौरभ भारो मे थका
सदा लिपटा रहता था अङ्ग;
बने हो अब अतीत के बिन्दु
बने हो अवनी पर निरुपाय,
बने स्थिर, सकरुण स्वप्नाकार
लिए अपना अविदित अभिप्राय।
न गिरना, मत गिरना ए सुनो !
सुरक्षित रखना अपना द्वार,
कभी आऊँगा फिर इस ओर
आँख मे भर आँसू दो चार।

१०

कवि, मेरा सूखा-सा जीवन,
रहने दो म सूना।
रहो दूर, मेरे सुख दुख की,
स्मृतियाँ तुम मत छूना।
रङ्गों से मत भरो चित्र,
धुँधली रहने दो रेखा।
मेरे सूखे-से थल में,
किसने गङ्गा-जल देखा ?
गीत-विहँग क्यों उड़े, अभी है मौन-अँधेरा मेरा।
हाय, न जाने कहाँ खो रहा स्मृति-सङ्गीत-सवेरा ! ।
ओसों के अक्षर से अङ्कित
कर दूँ व्यथा-कहानी।
उसमें होगा मेरी आँखों
के मोती का पानी।
उसे न छूना रह जावेगी
मेरी कथा अधूरी।
कैसे पार करूँगी फिर मैं,
हृदय-अपरिचित दूरी ?

सुख की नहीं, किन्तु दुख ही की बनी रहूँगी रानी।
मेरे मन ही में रहने दो, मेरी करुण कहानी॥

अन्धकार का अम्बर पहने,
रात बिता दूँ सारी।
दीप नहीं, तारक-प्रकाश में,
खोजूँ स्मृति-निधि न्यारी॥

ओस सदृश अवनी पर बिखरा—
कर यह यौवन सारा।
किसी किरण के हाथ समर्पित
कर दूँ जीवन प्यारा॥

तब तक यह सूखा-सा जीवन रहने दो तुम सूना।
रहो दूर, मेरे सुख-दुख की स्मृतियाँ तुम मत छूना॥